भारतीय परंपरागत दर्शनों की तुलना में मध्यस्थ दर्शन एक विकल्प

डॉ. सुरेन्द्र पाठक

मैं भारतीय परंपरा के दर्शनों के एक अध्येयता के रूप में स्वयं को देखता हूं। इसी क्रम में सौभाग्यवश मुझे श्रद्धेय नागराज जी मिलने और मध्यस्थ दर्शन सहअस्तित्व के अध्ययन का अवसर मिला। मैंने विगत 18 वर्षों तक मध्यस्थ दर्शन सहअस्तित्ववाद का अध्ययन किया और यह पाया कि इसने मेरी ज्ञान की पिपासा को शांत करने में अप्रतिम योगदान दिया है। मैं श्रद्धेय नागराज जी का ह्रदय से कृतज्ञ हूँ, जिनके सान्निध्य और मार्गदर्शन से मैं ऐसी गहन दार्शनिक वास्तविकताओं को समझने के लायक बन सका। मैं उनके परिवार के सहयोग का भी ह्रदय से आभारी हूँ, साथ ही अमरकंटक की पुण्य भूमि को नमन करना चाहता हूं। मैं आप सभी को भी मध्यस्थ दर्शन अस्तित्ववाद के गहन अध्येयता के रूप में ही देखता हूं आप सभी ने गहनता से ना केवल मध्यस्थ दर्शन का अध्ययन किया है वरन् अपनी इस जीवन यात्रा को इसे प्रमाणित करने के लिए अर्पित-समर्पित भी किया है।

इससे पूर्व कि मैं भारतीय दर्शनों और ऋषि परंपरा पर अपने विचार व्यक्त करूं, मैं स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि मैं इनका अधिकारी विद्वान नहीं हूं - लेकिन विगत 20 25 वर्षों से मैंने षड दर्शनों, जैन दर्शन और बौद्ध दर्शन के मर्म को समझने का प्रयास किया है, बहुत ही आदर के साथ में इसकी समीक्षा, इसकी तुलना और इनकी दार्शनिक सीमाओं को आपके सामने प्रस्तुत करने का प्रयास करूंगा। भारतीय परंपरा के मूल में षड दर्शन प्रतिष्ठित और प्रचलित रहे हैं। इनमें न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्व-मीमांसा (कर्म मीमांसा) और उत्तर मीमांसा (ज्ञान मीमांसा) हैं, इसके अतिरिक्त तंत्र, ज्योतिष, गणित व चार्वाक आदि उपदर्शन के रूप में देखने मिलते हैं। भारत में जैन और बौद्ध दर्शन की भी समृद्ध परंपरा रही है। इसी के साथ, सनातन परंपरा में शैव, शाक्त, वैष्णव, सौर्य और गणपत संप्रदाय परंपराएं भी प्रमुख रूप से हैं इन सभी में अपनी श्रेष्ठता को सिद्ध करने के तर्क हैं। जिनका प्रभाव प्रकारांतर से आज भी भारतीय समाज में देखने को मिलता है सबसे पहले षड दर्शन के मूल तत्वों का विश्लेषण करते हैं।

इन दर्शनों में जिन्होंने अपने निष्कर्ष वेद के आधार पर निस्पंद किए हैं, वह आस्तिक दर्शन माने जाते हैं जबकि जैन, बौद्ध और चार्वाक दर्शनों की निष्पत्ति वेदों के आधार पर ना होने के कारण इन्हें नास्तिक दर्शन कहा गया है।

उपरोक्त सभी दर्शनों में मूल रूप से परमात्मा/ब्रह्म, आत्मा, प्रकृति, जगत की उत्पत्ति के सिद्धांत, कर्मफल, पुनर्जन्म आदि मुद्दों पर तर्कसम्मत विधि से व्याख्याएं प्रस्तुत की गई हैं जो ज्यादातर रहस्यात्मक हैं और ये व्याख्याएं मध्यस्थ दर्शन से भिन्न हैं। मध्यस्थ दर्शन में परमात्मा (व्यापक वस्तु), आत्मा (गठनपूर्ण परमाणु का मध्यांश) और प्रकृति (क्रिया समुच्चय) के संबंध में जो अवधारणाएं प्रस्तुत की गई हैं वह उपरोक्त सभी दर्शनों से

भिन्न हैं और रहस्यात्मक नहीं हैं जिसका मूल उद्देश्य जाग्रत मानव परंपरा में जीने का कार्यक्रम और प्रमाण प्रस्तुत करना है।

उपरोक्त सभी दर्शनों में

1. परमात्मा और ब्रह्म के संबंध में जो भी अवधारणाएं व्यक्त की गई है उसमें ज्यादातर दर्शन ब्रह्म को या ईश्वर को द्रष्टा-कर्ता-भोक्ता के रूप में और जगत की उत्पत्ति या उत्पत्ति के निमित्त कारण के रूप में प्रतिपादित करते हैं जबकि मध्यस्थ दर्शन में जागृत जीवन को द्रष्टा-कर्ता-भोक्ता के रूप में प्रतिपादित किया गया है।
2. इनमें से कई दर्शन आत्मा को ही परमात्मा के रूप में और कुछ दर्शनों में आत्मा को एक पृथक तत्व के रूप में दर्शाया गया है जबकि मध्यस्थ दर्शन सहअस्तित्ववाद में आत्मा को गठनपूर्ण परमाणु-जीवन में मध्यांश में बताया गया है।
3. इसी प्रकार से कुछ दर्शन यह प्रतिपादित करते हैं कि प्रकृति की उत्पत्ति ईश्वर से होती है और प्रकृति अंततोगत्वा ईश्वर में या चेतन तत्व में अथवा ब्रह्म में लय हो जाती है। मध्यस्थ दर्शन सहअस्तित्ववाद कि प्रकृति (क्रिया/गति) की उत्पत्ति नहीं है और यह शश्वत है ईश्वर/व्यापक (क्रियाशून्य/स्थिति) नित्य है जीवन अमर है।
4. इसी प्रकार से मध्यस्थ दर्शन सहअस्तित्व में भाषा रचना का काम भी विकल्पात्मक तरीके से हुआ है। धातु को आधार ना बनाकर परम्परा से मिली ध्वनियों को अनुभव की रौशनी में अर्थ दिए गए हैं। अनुभव को व्यक्त किया जा सका है।
5. यहां तक कि उत्पत्ति और विलय के लिए साधना पद्धति में तर्क के रूप में यह कहा जाता है कि जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति, तूर्या, तूर्यातीत स्थिति में क्रमशः प्रकृति के विलय का अनुभव है, जो सिद्ध नहीं है। वापस आने पर संसार वैसा ही रहता है। इस दृष्टिकोण से श्रद्धेय नागराज जी ने हम सभी को साधना पद्धति के विकल्प के रूप में अध्ययन अध्यवसाय विधि दी है । इस कारण जो सुषुप्ति, तुरिया और तुरियातीत अवस्थाओं के अनुभव का आशित लाभ मानव परंपरा को नहीं मिल पा रहा था वह मिलने लगा है। श्रद्धेय नागराज जी द्वारा प्रस्तावित अध्ययन विधि का रास्ता सुगम और मानव के जीने से जुड़ा है और हम सब मानव के रूप में सहअस्तित्व रूपी अनुभव के आधार पर जागृत मानव परंपरा की संभावनाओं को समझ पा रहे हैं और स्वयं को इस रूप में प्रमाणित करने के लिए समर्पित हुए हैं। इस दृष्टिकोण से यह प्रस्ताव साधना का विकल्प प्रस्तुत करता है और मानव परंपरा में सर्वे भवंतु सुखना का तथा वसुदेव कुटुंबकम की संभावनाओं को भी प्रकट करता है । इससे पूर्व अनुभव क्षेत्र के विषय में परंपरा में यही उदघोष सुनने को मिलता है कि अनुभव (का क्षेत्र) अनिर्वचनीय है और भाषा में इसे व्यक्त नहीं किया जा सकता ना ही इसे भाषा से समझा जा सकता है।

थोड़ा विस्तार से प्रमुख षड दर्शन में क्या कहा गया है प्रस्तुत है।

1. न्याय दर्शन (महर्षि अक्षपाद गौतम)

सृष्टिकर्ता ईश्वर के पक्ष में तर्क

कार्यायोजनधृत्या देः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः। वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः॥[1]

न्याय दर्शन के अनुसार यह जगत् कार्य है अतः इसका निमित्त कारण अवश्य होना चाहिए। जगत् में सामंजस्य एवं समन्वय इसके चेतन कर्ता से आता है। अतः **सर्वज्ञ चेतन ईश्वर इस जगत् के निमित्त कारण एवं प्रायोजक कर्ता हैं**। आयोजनात्- जड़ होने से परमाणुओं में आद्य स्पन्दन नहीं हो सकता और बिना स्पंदन के परमाणु द्वयणुक आदि नहीं बना सकते। जड़ होने से अदृष्ट भी स्वयं परमाणुओं में गतिसंचार नहीं कर सकता। अतः परमाणुओं में आद्यस्पन्दन का संचार करने के लिए तथा उन्हें द्वयणुकादि बनाने के लिए चेतन ईश्वर की आवश्यकता है। जिस प्रकार इस जगत् की सृष्टि के लिए चेतन सृष्टिकर्ता आवश्यक है, उसी प्रकार इस जगत् को धारण करने के लिए एवं इसका प्रलय में संहार करने के लिए चेतन धर्ता एवं संहर्ता की आवश्यकता है। **यह कर्ता-धर्ता-संहर्ता ईश्वर है। पदों में अपने अर्थों को अभिव्यक्त करने की शक्ति ईश्वर से आती** है। "इस पद से यह अर्थ बोद्धव्य है", यह ईश्वर-संकेत पद-शक्ति है। संख्याविशेषात्- नैयायिकों के अनुसार द्वयणुक का परिणाम उसके घटक दो अणुओं के परिमाण्डल्य से उत्पन्न नहीं होता, अपितु दो अणुओं की संख्या से उत्पन्न होता है। संख्या का प्रत्यय चेतन द्रष्टा से सम्बद्ध है, सृष्टि के समय जीवात्मायें जड़ द्रव्य रूप में स्थित हैं एवं अदृष्ट, परमाणु, काल, दिक्, मन आदि सब जड़ हैं। अतः दो की संख्या के प्रत्यय के लिए चेतन ईश्वर की सत्ता आवश्यक है। अदृष्ट जीवों के शुभाशुभ कर्मसंस्कारों का आगार है। ये संचित संस्कार फलोन्मुख होकर जीवों को कर्मफल भोग कराने के प्रयोजन से सृष्टि के हेतु बनते हैं। किन्तु अदृष्ट जड़ है, अतः उसे सर्वज्ञ ईश्वर के निर्देशन तथा संचालन की आवश्यकता है। **अतः अदृष्ट के संचालक के रूप में सर्वज्ञ ईश्वर की सत्ता सिद्ध होती है।**

2. वैशेषिक दर्शन (महर्षि कणाद)

कणाद कृत वैशेषिकसूत्रों **में ईश्वर का स्पष्टोल्लेख नहीं हुआ है।** "तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्" अर्थात् तद्वचन होने से वेद का प्रामाण्य है। इस वैशेषिकसूत्र में "तद्वचन" का अर्थ कुछ विद्वानों ने "ईश्वरवचन" किया है। किन्तु तद्वचन का अर्थ ऋषिवचन भी हो सकता है। तथापि प्रशस्तपाद से लेकर **बाद के ग्रन्थकारों ने ईश्वर की सत्ता स्वीकारी है** एवं कुछ ने उसकी सिद्धि के लिए प्रमाण भी प्रस्तुत किए हैं। इनके अनुसार ईश्वर नित्य, सर्वज्ञ और पूर्ण हैं। **ईश्वर अचेतन, अदृष्ट के संचालक हैं।** ईश्वर इस जगत् के निमित्तकारण और परमाणु उपादान कारण हैं। **अनेक परमाणु और अनेक आत्मद्रव्य नित्य एवं स्वतन्त्र द्रव्यों के रूप में ईश्वर के साथ हैं; ईश्वर इनको उत्पन्न नहीं करते क्योंकि नित्य होने से ये उत्पत्ति-विनाश-रहित हैं तथा ईश्वर के साथ आत्मद्रव्यों का भी कोई घनिष्ठ संबंध नहीं है।** ईश्वर का कार्य, सर्ग के समय, अदृष्ट से गति लेकर परमाणुओं में आद्यस्पन्दन के रूप में सञ्चरित कर देना; और प्रलय के समय, इस गति का अवरोध करके वापस अदृष्ट में संक्रमित कर देना है। उत्पन्न होनेवाले जीवों के कल्याण के लिए परमात्मा में सृष्टि करने की इच्छा उत्पन्न हो जाती है, जिससे जीवों के अदृष्ट कार्योन्मुख हो जाते हैं। परमाणुओं में एक प्रकार की क्रिया उत्पन्न हो जाती है, जिससे एक परमाणु, दूसरे परमाणु से संयुक्त हो जाते हैं। दो परमाणुओं के संयोग से एक "द्रव्यणुक" उत्पन्न होता है। पार्थिव शरीर को उत्पन्न करने के लिए जो दो परमाणु इकट्ठे होते हैं वे पार्थिव परमाणु हैं। वे दोनों उत्पन्न हुए "दव्यणुक" के

[1] न्यायकुसुमाञ्जलि. ५.१

समवायिकारण हैं। उन दोनों का संयोग असमवायिकारण है और अदृष्ट, ईश्वर की इच्छा, आदि निमित्तकारण हैं।

वैशेषिक मत में समस्त विश्व "भाव और अभाव" इन दो विभागों में विभाजित है।

इनमें "भाव" के छह विभाग किए गए हैं- द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, तथा समवाय।
अभाव : किसी वस्तु का न होना, उस वस्तु का "अभाव" है। इसके चार भेद हैं –

- **प्राग् अभाव** कार्य उत्पन्न होने के पहले कारण में उस कर्य का न रहना,
- **प्रध्वंस अभाव** कार्य के नाश होने पर उस कार्य का न रहना,
- **अत्यंत अभाव** तीनों कालों में जिसका सर्वथा अभाव हो,
- **अन्योन्य अभाव** परस्पर अभाव, जैसे घट में पट का न होना तथा पट में घट का न होना।

द्रव्य : जिसमें "द्रव्यत्व जाति", वह द्रव्य है। कार्य के समवायिकरण को द्रव्य कहते हैं। द्रव्य गुणों का आश्रय है।

- **पृथ्वी, जल, तेजस, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा तथा मनस् ये नौ "द्रव्य" हैं।**
- इनमें से प्रथम चार **(पृथ्वी, जल, तेजस, वायु)** द्रव्यों के नित्य और अनित्य, दो भेद हैं।
- नित्यरूप को "परमाणु" तथा अनित्य रूप को कार्य कहते हैं। चारों भूतों के उस हिस्से को "परमाणु" कहते हैं जिसका पुन: भाग न किया जा सके, अतएव यह नित्य है। पृथ्वीपरमाणु के अतिरिक्त अन्य परमाणुओं के गुण भी नित्य है।

गुण : कार्य का असमवायीकरण "गुण" है। **रूप, रस, गंध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह (चिकनापन), शब्द, ज्ञान, सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म अधर्म तथा संस्कार ये चौबीस गुण** के भेद हैं। इनमें से रूप, गंध, रस, स्पर्श, स्नेह, स्वाभाविक द्रवत्व, शब्द तथा ज्ञान से लेकर संस्कार पर्यंत, ये "वैशेषिक गुण" हैं, अवशिष्ट साधारण गुण हैं। गुण द्रव्य ही में रहते हैं।

कर्म : क्रिया को "कर्म" कहते हैं। , ये पाँच "कर्म" के भेद हैं। **ऊपर फेंकना, नीचे फेंकना, सिकुड़ना, फैलाना तथा (अन्य प्रकार के) गमन, जैसे भ्रमण, स्पंदन, रेचन,** आदि। कर्म द्रव्य ही में रहता है।

सामान्य: अनेक वस्तुओं में एक सी बुद्धि होती है, उसके कारण प्रत्येक घट में जो "यह घट है" इस एक सी बुद्धि का कारण उसमें रहने वाला "सामान्य" है, जिसे वस्तु के नाम के आगे "त्व" लगाकर कहा जाता है, जैसे - घटत्व, पटत्व। "त्व" से उस जाति का ज्ञान होता है। यह नित्य है और द्रव्य, गुण तथा कर्म में रहता है। अधिक स्थान में रहने वाला "सामान्य", "परसामान्य" या "सत्तासामान्य" कहा जाता है। सत्तासामान्य द्रव्य, गुण तथा कर्म इन

तीनों में रहता है। प्रत्येक वस्तु में रहने वाला तथा अव्यापक जो सामान्य हो, वह "अपर सामान्य" या "सामान्य विशेष" कहा जाता है। एक वस्तु को दूसरी वस्तु से पृथक् करना सामान्य का अर्थ है।

विशेष : द्रव्यों के अंतिम विभाग में रहनेवाला तथा नित्य द्रव्यों में रहनेवाला "विशेष" कहलाता है। नित्य द्रव्यों में परस्पर भेद करनेवाला एकमात्र यही पदार्थ है। यह अनंत है।

समवाय : एक प्रकार का संबंध है, जो अवयव और अवयवी, गुण और गुणी, क्रिया और क्रियावान् जाति और व्यक्ति तथा विशेष और नित्य द्रव्य के बीच रता है। वह एक है और नित्य भी है।

आत्मा : वैशेषिक दर्शन

कणाद ने आत्मा के द्रव्यत्व का विश्लेषण करते हुए सर्वप्रथम यह कहा कि

- प्राण, अपान, निमेष, उन्मेष, जीवन, मनोगति, इन्द्रियान्तर विकार, सुख-दु:ख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न नामक लिंगों से आत्मा का अनुमान होता है।
- ज्ञान आदि गुणों का आश्रय होने के कारण आत्मा एक द्रव्य है और किसी अवान्तर (अपर सामान्य) द्रव्य का आरम्भक न होने के कारण नित्य है।
- आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं होता। रूप आदि के समान ज्ञान भी एक गुण है। उसका भी आश्रय कोई द्रव्य होना चाहिए।
- पृथ्वी आदि अन्य आठ द्रव्य ज्ञान के आश्रय नहीं है। अत: परिशेषानुमान से जो द्रव्य ज्ञान का आश्रय है, उसको आत्मा कहा जाता है।
- ज्ञानादि के आश्रयभूत द्रव्य की आत्मसंज्ञा वेद विहित है। इस वेद विहित आत्मा का अन्य आठ द्रव्यों में अन्तर्भाव नहीं हो सकता।
- 'अहम्' शब्द का आत्मवाचित्व सुप्रसिद्ध है। 'मैं देवदत्त हूँ' ऐसे वाक्यों में शरीर में अहम की प्रतीति उपचारवश होती है। प्रत्येक आत्मा में सुख, दु:ख की प्रतीति भिन्न-भिन्न रूप से होती है। अत: जीवात्मा एक नहीं अपितु अनेक हैं, नाना हैं।[2]

3. **सांख्य दर्शन (महर्षि कपिल)**

इस दर्शन के कुछ टीकाकारों ने ईश्वर की सत्ता का निषेध किया है। उनका तर्क है- **ईश्वर चेतन है, अतः इस जड़ जगत् का कारण नहीं हो सकता।** पुनः ईश्वर की सत्ता किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं हो सकती. या तो ईश्वर स्वतन्त्र और सर्वशक्तिमान् नहीं है, या फिर वह उदार और दयालु नहीं है, अन्यथा दुःख, शोक, वैषम्यादि से युक्त इस जगत् को क्यों उत्पन्न करता? यदि ईश्वर कर्म-सिद्धान्त से नियन्त्रित है, तो स्वतन्त्र नहीं है और कर्मसिद्धान्त को

[2] आत्माश्रय: प्रकाशों बुद्धि:, स.ष. पृ. 76

न मानने पर सृष्टि वैचित्र्य सिद्ध नहीं हो सकता। पुरुष और प्रकृति के अतिरिक्त किसी ईश्वर की कल्पना करना युक्तियुक्त नहीं है।

प्राचीनतम सांख्य ईश्वर को 26वाँ तत्व मानता रहा होगा। इसके साक्ष्य महाभारत, भागवत इत्यादि प्राचीन साहित्य में प्राप्त होते हैं। यदि यह अनुमान यथार्थ हो तो सांख्य को मूलत: ईश्वरवादी दर्शन मानना होगा। परंतु परवर्ती सांख्य ईश्वर को कोई स्थान नहीं देता। इसी से परवर्ती साहित्य में वह निरीश्वरवादी दर्शन के रूप में ही उल्लिखित मिलता है।

सांख्य में आत्मा

सांख्य दृश्यमान विश्व को प्रकृति-पुरुष मूलक मानता है। उसकी दृष्टि से केवल चेतन या केवल अचेतन पदार्थ के आधार पर इस चिदविदात्मक जगत् की संतोषप्रद व्याख्या नहीं की जा सकती। इसीलिए लौकायतिक आदि जड़वादी दर्शनों की भाँति सांख्य न केवल जड़ पदार्थ ही मानता है और न अनेक वेदांत संप्रदायों की भाँति वह केवल चिन्मात्र ब्रह्म या आत्मा को ही जगत् का मूल मानता है। अपितु जीवन या जगत् में प्राप्त होने वाले जड़ एवं चेतन, दोनों ही रूपों के मूल रूप से जड़ प्रकृति, एवं चिन्मात्र पुरुष इन दो तत्वों की सत्ता मानता है

आत्मा (पुरुष)	(1)
अंत:करण	(3) : मन, बुद्धि, अहंकार
ज्ञानेन्द्रियाँ	(5) : नासिका, जिह्वा, नेत्र, त्वचा, कर्ण
कर्मेन्द्रियाँ	(5) : पाद, हस्त, उपस्थ, पायु, वाक्
तन्मात्रायें	(5) : गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द
महाभूत	(5) : पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश

प्रकृति से महत् या बुद्धि, उससे अहंकार,
तामस अहंकार से पंच-तन्मात्र (शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध) एवं
सात्विक अहंकार से ग्यारह इंद्रिय (पंच ज्ञानेंद्रिय, पंच कर्मेंद्रिय तथा उभयात्मक मन) और
अंत में पंच तन्मात्रों से क्रमश: आकाश, वायु, तेजस्, जल तथा पृथ्वी नामक पंच महाभूत,
इस प्रकार तेईस तत्व क्रमश: उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार मुख्यामुख्य भेद से सांख्य दर्शन 25 तत्व मानता है।

4. **योग दर्शन (महर्षि पतंजलि)**

योग दर्शन में 'ईश्वर', हालाँकि सांख्य और योग दोनों पूरक दर्शन हैं किन्तु योगदर्शन ईश्वर की सत्ता स्वीकार करता है। पतञ्जलि ने ईश्वर का लक्षण बताया है- "क्लेशकर्मविपाकाराशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेषः ईश्वरः" अर्थात् क्लेश, कर्म, विपाक (कर्मफल) और आशय (कर्म-संस्कार) से सर्वथा अस्पृष्ट पुरुष-विशेष ईश्वर है। यह योग-प्रतिपादित ईश्वर एक विशेष पुरुष है; **वह जगत् का कर्ता, धर्ता, संहर्ता, नियन्ता नहीं है।** असंख्य नित्य पुरुष

तथा नित्य अचेतन प्रकृति स्वतन्त्र तत्त्वों के रूप में ईश्वर के साथ-साथ विद्यमान हैं। साक्षात् रूप में ईश्वर का प्रकृति से या पुरुष के बन्धन और मोक्ष से कोई लेना-देना नहीं है।
योगदर्शन, सांख्य की तरह द्वैतवादी है। सांख्य के तत्त्वमीमांसा को पूर्ण रूप से स्वीकारते हुए उसमें केवल 'ईश्वर' को जोड़ देता है। इसलिये योगदर्शन को 'सेश्वर सांख्य' कहते हैं और सांख्य को 'निरीश्वर सांख्य' कहा जाता है।[3]

योग दर्शन में आत्मा

असम्प्रज्ञात समाधि : निरुद्ध दशा में असम्प्रज्ञात समाधि का उदय होता है, जब चित्त की समस्त वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं। यहाँ कोई भी आलम्बन नहीं रहता। अत: इसे असम्प्रज्ञात समाधि कहा जाता है। असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था-पूर्णतया प्राप्त होने पर 'आत्मा' अर्थात् 'द्रष्टा' केवल 'चैतन्य' स्वरूप से ही स्थित रहता है। 'आत्मा' स्वभावत: निर्विकार होने पर भी विकार 'चित्त' में हुआ करते हैं। उस कारण (आत्मा), चित्त की तत्तद्वृत्तियों की सरूपता को प्राप्त हुआ सा अविद्यादोष के कारण प्रतीत होता है।

'सबीज समाधि' में चित्त की प्रज्ञा 'सत्य' का ही ग्रहण करता है, विपरीत ज्ञान रहता ही नहीं। इसीलिये उस प्रज्ञा को 'ऋतंभरा प्रज्ञा' कहा गया है। इस प्रज्ञा से क्रमश: पर-वैराग्य के द्वारा 'निर्बीज समाधि' का लाभ होता है। उस अवस्था में 'आत्मा' केवल अपने स्वरूप में ही स्थित रहता है। तब 'पुरुष' को 'मुक्त' समझना चाहिए। ध्येय वस्तु का ज्ञान बने रहने के कारण पूर्व समाधि को 'सम्प्रज्ञात' और ध्येय, ध्यान, ध्याता के एकाकार हो जाने से द्वितीय समाधि को 'असम्प्रज्ञात' कहा जाता है। योग दर्शन का चरमलक्ष्य है आत्म-दर्शन।

कैवल्यविमर्श : 'कैवल्य' योग का चरम फल है। 'केवल' शब्द से 'ष्यञ्' प्रत्यय करके 'कैवल्य' पद की निष्पत्ति होती है। एक शब्द में इसका अर्थ 'पूर्ण पृथक्ता' अथवा 'अत्यन्त भिन्नता' है। यहाँ प्रकृति से आत्मा का पार्थक्य अभिप्रेत है। मूलत: पृथक् दो पदार्थों की अभेद-प्रतीति अविद्यावश होती है। अत: विद्या से अभेद-प्रतीति छिन्न होती है, ऐसा सिद्धान्त है।

5. मीमांसा दर्शन (महिर्ष जैमिनी)

मीमांसाका आरम्भ ही महिर्ष जैमिनि इस प्रकार करते है :- **अधातो धर्मजिज्ञासा॥** अब धर्म करणीय कर्म के जानने की जिज्ञासा है। इस जिज्ञासा का उत्तर देने के लिए यह पूर्ण 16 अध्याय और 64 पादोंवाला ग्रन्थ रचा गया है। धर्म एक विस्तृत अर्थवाला शब्द है। धर्म की व्याख्या यजुर्वेद में की गयी है। वेद के प्रारम्भ में ही यज्ञ की महिमा का वर्णन है। वैदिक परिपाटी में यज्ञ का अर्थ देव-यज्ञ ही नहीं है, वरन् इसमें मनुष्य के प्रत्येक प्रकार के कार्यो-कर्म का समावेश हो जाता है।

---

[3] भारतीय दर्शन की रूपरेखा (प्रो हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा), पृष्ट २७०

शास्त्रोक्त प्रत्येक कार्य-कर्म यज्ञ ही है। सभी प्रकार के कर्मों की व्याख्या इस दर्शन शास्त्र में है। ज्ञान उपलब्धि के जिन छह साधनों की चर्चा इसमें की गई है, वे है-प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि। मीमांसा दर्शन के अनुसार वेद अपौरूषेय, नित्य एवं सर्वोपरि है और वेद-प्रतिपादित अर्थ को ही धर्म कहा गया है।

मीमांसा सिद्धान्त में वक्तव्य के दो विभाग हैं :-
पहला है, अपरिहार्य विधि जिसमें उत्पत्ति, विनियोग, प्रयोग और अधिकार विधियां शामिल है।
दूसरा विभाग है, अर्थवाद जिसमें स्तुति और व्याख्या की प्रधानता है।

मीमांसा दर्शन नैयायिकों के समान विधि मुख से ईश्वर का समर्थन अैर निरीश्वर सांख्यवादियों के समान निषेध भी नहीं करता, किंतु "संबंधाक्षेपपरिहार" ग्रंथ में कुमारिल भट्ट (लगभग 670 ई) ने शब्दार्थ के संबंध का कर्ता ईश्वर का निराकरण किया है। अभिप्राय यह है कि संबंध का कर्ता ईश्वर नहीं है। उपर्युक्त वचनों को स्वीकार कर लोकप्रसिद्धि है कि मीमांसक निरीश्वरवादी है।

कुमारिल भट्ट, नंदीश्वर आदि मीमांसकों ने अनुमानसिद्ध ईश्वर का निराकरण किया है और वेदसिद्ध ईश्वर को स्वीकार किया है। वस्तुतः मीमांसा वेद से सिद्ध ब्रह्म अथवा ईश्वर को स्वीकार करता ही है।

मैक्समूलर मत के पक्षपाती कुछ भारतीय विद्वान् भी इसे दर्शन कहने में संकोच करते हैं, क्योंकि न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग और वेदांत में जिस प्रकार तत् तत् प्रकरणों में प्रमाण और प्रमेयों के द्वारा आत्मा-अनात्मा, बंध मोक्ष आदि का मुख्य रूप से विवेचन मिलता है, वैसा मीमांसा दर्शन के सूत्र, भाष्य और वार्तिक आदि में दृष्टिगोचर नहीं होता।

देवता संबंध विषयक विचार:

वेदविहित यज्ञादि कर्म द्रव्य और देवता इन दो से साध्य हैं। द्रव्य दध्यादि है और देवता शास्त्रैक समधिगम्य है। अर्थात् विधि वाक्य को ही देवता माना जाता है। यहाँ देवता के विषय में तीन पक्ष स्वीकार किया गया है। अर्थ देवता, शब्द विशिष्ट अर्थ देवता और शब्द देवता हैं। इन तीनों में अंतिम पक्ष ही सिद्धांत है, क्योंकि अर्थ का स्मरण शब्द के द्वारा हुआ करता है। अतएव शब्द की प्रथम उपस्थिति होने के कारण शब्द ही देवता माना गया है।

उदाहरणार्थ "इंद्राय स्वाहा, तक्षकाय स्वाहा" शब्दों में इंद्राय और तक्षकाय ये चतुर्थांत पद ही देवता हैं। अर्थ को देवता स्वीकार करने वाले व्यक्ति भी शब्द की उपेक्षा नहीं कर सकते। अत: तीनों पक्षों में शब्द मुख्य होने के कारण शब्द को ही देवता स्वीकार किया है। यहाँ पर एक नियम है - विधि वाक्य में जो देवतावाचक शब्द है उसका आवाहन, त्याग और सूक्त वाक्य आदि में उच्चारण करना चाहिए, न कि उसके पर्यायवाची शब्दों को।

उदाहरणार्थ "आग्नेयमष्टाकपालम्" में अग्नि के पर्यायवाची "जातवेदस" शब्द का प्रयोग नहीं करना चाहिए। उक्त बातों से विदित होता है कि "शब्दमयी देवता" ही मीमांसा दर्शन का सिद्धांत है।

5. उत्तर मीमांसा/वेदान्त (ज्ञान मीमांसा-महर्षि बादरायण)

ब्रह्म-जिज्ञासा। ब्रह्मसूत्र का प्रथम सूत्र ही है :- **अथातो ब्रह्मजिज्ञासा॥** अर्थात ब्रह्म को जानने की लालसा-इच्छा-जिज्ञासा।

इस जिज्ञासा का चित्रण श्वेताश्वर उपनिषद् में बहुत बहुत भली-भाँति किया गया है। उपनिषद् का प्रथम मंत्र है- ब्रह्मवादिनो वदन्ति :-

किं कारणं ब्रह्म कुत: स्म जाता जीवाम केन क्व च संप्रतिष्ठा:।
अधिष्ठिता: केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम्॥

अर्थात ब्रह्म का वर्णन करने वाले कहते हैं, इस (जगत्) का कारण क्या है? हम कहाँ से उत्पन्न हुए हैं ? कहाँ स्थित और कैसे स्थित हैं ? यह सुख-दु:ख क्यों होता है ? ब्रह्म की जिज्ञासा करने वाला यह जानने चाहते हैं कि जो उत्पन्न हुआ है वह सब क्या है, क्यों हैं, कैसे है ? इत्यादि।

पहली जिज्ञासा कर्म धर्म की जिज्ञासा थी और दूसरी जिज्ञासा जगत् का मूल कारण जानने ज्ञान की थी। इस दूसरी जिज्ञासा का उत्तर ही ब्रह्म सूत्र अर्थात् उत्तर मीमांसा है। चूँकि यह दर्शन वेद के परम ओर अन्तिम तात्पर्य का दिग्दर्शन कराता है, इसलिए इसे वेदान्त दर्शन के नाम से ही जाना जाता हैं

वेदस्य अन्त: अन्तिमो भाग ति वेदान्त:॥
परमात्मा जो अपने शब्द रूप में तत्वों से संयुक्त होकर भासता है, परन्तु उसका अपना शुद्ध रूप नेति-नेति शब्दों से ही व्यक्त होता है। यह दर्शन भी वेद के कहे मन्त्रों की व्याख्या में ही है।

उत्तर मीमांसा/वेदान्त अनुसार ईश्वर

उत्तर मीमांसा/वेदान्त अनुसार ईश्वर की सत्ता तर्क से सिद्ध नहीं की जा सकती। ईश्वर के पक्ष में जितने प्रबल तर्क दिये जा सकते हैं उतने ही प्रबल तर्क उनके विपक्ष में भी दिये जा सकते हैं। तथा, बुद्धि पक्ष-विपक्ष के तुल्य-बल तर्कों से ईश्वर की सिद्धि या असिद्धि नहीं कर सकती। **ईश्वर केवल श्रुति-प्रमाण से सिद्ध होता है; अनुमान की गति ईश्वर तक नहीं है।**

ब्रह्मसूत्र के प्रवर्तक महर्षि बादरायण है। इस दर्शन में चार अध्याय, प्रत्येक अध्याय में चार-चार पाद (कुल १६ पाद) और सूत्रों की संख्या ५५५ है। इसमें बताया गया है कि तीन ब्रह्म अर्थात् मूल पदार्थ है-प्रकृति, जीवात्मा और परमात्मा। तीनों अनादि है। इनका आदि-अन्त नहीं। तीनों ब्रह्म कहाते है और जिसमें ये तीनों विद्यमान है अर्थात् जगत् वह परम ब्रह्म है। प्रकृति जो जगत् का उपादान कारण है, परमाणुरूप है जो त्रिट (तीन शक्तियो-सत्व, राजस् और तमस् का गुट) है। इन तीनों अनादि पदार्थों का वर्णन ब्रह्मसूत्र (उत्तर मीमांसा) में है। जीवात्मा का वर्णन करते हुए इसके जन्म-मरण के बन्धन में आने का वर्णन भी ब्रह्मसूत्र में है। साथ ही मरण-जन्म से छुटकारा पाने का भी वर्णन है। परमात्मा जो अपने शबत रूप में तत्वों से संयुक्त होकर भासता है, परन्तु उसका अपना शुद्ध रूप नेति-नेति (यह नहीं, यह नहीं) शब्दों से ही व्यक्त होता है।

ब्रह्म सूत्र को वेदान्तशास्त्र अथवा उत्तर (ब्रह्म) मीमांसा का आधार ग्रन्थ माना जाता है। इसके रचयिता बादरायण कहे जाते हैं। बादरायण से पूर्व भी वेदान्त के आचार्य हो गये हैं, सात आचार्यों के नाम तो इस ग्रन्थ में ही प्राप्त हैं। इसका विषय है- 'ब्रह्म का विचार'।

ब्रह्मसूत्र के अध्यायों का वर्णन इस प्रकार हैं-

- **प्रथम अध्याय** का नाम 'समन्वय' है, इसमें अनेक प्रकार की परस्पर विरुद्ध श्रुतियों का समन्वय ब्रह्म में किया गया है।
- **दूसरे अध्याय** का साधारण नाम 'अविरोध' है।
- इसके प्रथम पाद में स्वमतप्रतिष्ठा के लिए स्मृति-तर्कादि विरोधों का परिहार किया गया है।
- द्वितीय पाद में विरुद्ध मतों के प्रति दोषारोपण किया गया है।
- **तृतीय पाद में ब्रह्म से तत्वों की उत्पत्ति कही गयी है।**
- चतुर्थ पाद में भूतविषयक श्रुतियों का विरोधपरिहार किया गया है।
- **तृतीय अध्याय** का साधारण नाम 'साधन' है। इसमें जीव और ब्रह्म के लक्षणों का निर्देश करके मुक्ति के बहिरंग और अन्तरंग साधनों का निर्देश किया गया है।
- **चतुर्थ अध्याय** का नाम 'फल' है। इसमें जीवन्मुक्ति, जीव की उत्क्रान्ति, सगुण और निर्गुण उपासना के फलतारतम्य पर विचार किया गया है।
- ब्रह्मसूत्र पर सभी वेदान्तीय सम्प्रदायों के आचार्यों ने भाष्य, टीका व वृत्तियाँ लिखी हैं। इनमें गम्भीरता, प्रांजलता, सौष्ठव और प्रसाद गुणों की अधिकता के कारण शांकर भाष्य सर्वश्रेष्ठ स्थान रखता है। इसका नाम 'शारीरक भाष्य' है।

उत्तर मीमांसा/वेदान्त (ज्ञान मीमांसा) काल में निम्नांकित छह मत प्रतिष्ठित है

- अद्वैत वेदान्त — गौडपाद (300 ई.) तथा उनके अनुवर्ती आदि शंकराचार्य (700 ई.)

- ❖ विशिष्टाद्वैत वेदान्त रामानुज रामानुजाचार्य (1017 -1137)
- ❖ द्वैत वैदांत श्री मध्वाचार्य (1197 ई.)
- ❖ द्वैताद्वैत वेदान्त निम्बार्काचार्य (11 वीं शताब्दी)
- ❖ शुद्धाद्वैत वेदान्त वल्लभाचार्य (1479 ई.)
- ❖ अचिंत्य भेदाभेद वेदान्त महाप्रभु चैतन्य (1485-1533 ई.)

अद्वैत वेदान्त-गौडपाद (300 ई.) तथा उनके अनुवर्ती आदि शंकराचार्य (700 ई.)

ब्रह्म को प्रधान मानकर जीव और जगत् को उससे अभिन्न मानते हैं। उनके अनुसार तत्व को उत्पत्ति और विनाश से रहित होना चाहिए। **नाशवान् जगत तत्वशून्य है, जीव भी जैसा दिखाई देता है वैसा तत्वत: नहीं है। जाग्रत और स्वप्नावस्थाओं में जीव जगत् में रहता है परंतु सुषुप्ति में जीव प्रपंच ज्ञानशून्य चेतनावस्था में रहता है।** इससे सिद्ध होता है कि जीव का शुद्ध रूप सुषुप्ति जैसा होना चाहिए। सुषुप्ति अवस्था अनित्य है अत: इससे परे तुरीयावस्था को जीव का शुद्ध रूप माना जाता है। इस अवस्था में नश्वर जगत् से कोई संबंध नहीं होता और जीव को पुन: नश्वर जगत् में प्रवेश भी नहीं करना पड़ता। यह तुरीयावस्था अभ्यास से प्राप्त होती है। ब्रह्म-जीव-जगत् में अभेद का ज्ञान उत्पन्न होने पर जगत् जीव में तथा जीव ब्रह्म में लीन हो जाता है। तीनों में वास्तविक अभेद होने पर भी अज्ञान के कारण जीव जगत् को अपने से पृथक् समझता है। परंतु स्वप्नसंसार की तरह जाग्रत संसार भी जीव की कल्पना है। भेद इतना ही है कि स्वप्न व्यक्तिगत कल्पना का परिणाम है जबकि जाग्रत अनुभव-समष्टि-गत महाकल्पना का। स्वप्नजगत् का ज्ञान होने पर दोनों में मिथ्यात्व सिद्ध है। परंतु बौद्धों की तरह वेदान्त में जीव को जगत् का अंग होने के कारण मिथ्या नहीं माना जाता। मिथ्यात्व का अनुभव करनेवाला जीव परम सत्य है, उसे मिथ्या मानने पर सभी ज्ञान को मिथ्या मानना होगा। परंतु जिस रूप में जीव संसार में व्यवहार करता है उसका वह रूप अवश्य मिथ्या है। जीव की तुरीयावस्था भेदज्ञान शून्य शुद्धावस्था है। ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान का संबंध मिथ्या संबंध है। इनसे परे होकर जीव अपनी शुद्ध चेतनावस्था को प्राप्त होता है। इस अवस्था में भेद का लेश भी नहीं है क्योंकि भेद द्वैत में होता है। इसी अद्वैत अवस्था को ब्रह्म कहते हैं।

विशिष्टाद्वैत वेदान्त - रामानुजाचार्य ने (11वीं शताब्दी)

शंकर मत के विपरीत यह कहा कि ईश्वर (ब्रह्म) स्वतंत्र तत्व है परंतु जीव भी सत्य है, मिथ्या नहीं। ये जीव ईश्वर के साथ संबद्ध हैं। उनका यह संबंध भी अज्ञान के कारण नहीं है, वह वास्तविक है। मोक्ष होने पर भी जीव की स्वतंत्र सत्ता रहती है। भौतिक जगत् और जीव अलग अलग रूप से सत्य हैं परंतु ईश्वर की सत्यता इनकी सत्यता से विलक्षण है। ब्रह्म पूर्ण है, जगत् जड़ है, जीव अज्ञान और दु:ख से घिरा है। ये तीनों मिलकर एकाकार हो जाते हैं क्योंकि जगत् और जीव ब्रह्म के शरीर हैं और ब्रह्म इनकी आत्मा तथा नियंता है। ब्रह्म से पृथक् इनका अस्तित्व नहीं है, ये ब्रह्म की सेवा करने के लिए ही हैं। इस दर्शन में अद्वैत की जगह बहुत्व की कल्पना है परंतु ब्रह्म अनेक में एकता स्थापित करनेवाला एक तत्व है। बहुत्व से विशिष्ट अद्वय ब्रह्म का प्रतिपादन करने के कारण इसे विशिष्टाद्वैत कहा जाता है।

विशिष्टाद्वैत मत में भेदरहित ज्ञान असंभव माना गया है। इसीलिए शंकर का शुद्ध अद्वय ब्रह्म इस मत में ग्राह्य नहीं है। ब्रह्म सविशेष है और उसकी विशेषता इसमें है कि उसमें सभी सत् गुण विद्यामान हैं। अत: ब्रह्म वास्तव में शरीरी ईश्वर है। सभी वैयक्तिक आत्माएँ सत्य हैं और इन्हीं से ब्रह्म का शरीर निर्मित है। ये ब्रह्म में, मोक्ष हाने पर, लीन नहीं होतीं; इनका अस्तित्व अक्षुण्ण बना रहता है। इस तरह ब्रह्म अनेकता में एकता स्थापित करनेवाला सूत्र है। यही ब्रह्म प्रलय काल में सूक्ष्मभूत और आत्माओं के साथ कारण रूप में स्थित रहता है परंतु सृष्टिकाल में सूक्ष्म स्थूल रूप धारण कर लेता है। यही कार्य ब्रह्म कहा जाता है। अनंत ज्ञान और आनंद से युक्त ब्रह्म को नारायण कहते हैं जो लक्ष्मी (शक्ति) के साथ बैकुंठ में निवास करते हैं। भक्ति के द्वारा इस नारायण के समीप पहुँचा जा सकता है। सर्वोत्तम भक्ति नारायण के प्रसाद से प्राप्त होती है और यह भगवद्ज्ञानमय है। भक्ति मार्ग में जाति-वर्ण-गत भेद का स्थान नहीं है। सबके लिए भगवत्प्राप्ति का यह राजमार्ग है।

द्वैत वैदांत - श्री मध्वाचार्य (1197 ई.)

द्वैत वेदान्त में पाँच भेदों को आधार माना जाता है- जीव ईश्वर, जीव जीव, जीव जगत्, ईश्वर जगत्, जगत् जगत्। इनमें भेद स्वत: सिद्ध है। भेद के बिना वस्तु की स्थिति असंभव है। जगत् और जीव ईश्वर से पृथक् हैं किंतु ईश्वर द्वारा नियंत्रित हैं। सगुण ईश्वर जगत् का स्रष्टा, पालक और संहारक है।

भक्ति से प्रसन्न होनेवाले ईश्वर के इशारे पर ही सृष्टि का खेल चलता है। यद्यपि जीव स्वभावत: ज्ञानमय और आनंदमय है परंतु शरीर, मन आदि के संसर्ग से इसे दु:ख भोगना पड़ता है। यह संसर्ग कर्मों के परिणामस्वरूप होता है। जीव ईश्वरनियंत्रित होने पर भी कर्ता और फलभोक्ता है। ईश्वर में नित्य प्रेम ही भक्ति है जिससे जीव मुक्त होकर, ईश्वर के समीप स्थित होकर, आनंदभोग करता है।

भौतिक जगत् ईश्वर के अधीन है और ईश्वर की इच्छा से ही सृष्टि और प्रलय में यह क्रमश: स्थूल और सूक्ष्म अवस्था में स्थित होता है। रामानुज की तरह मध्व जीव और जगत् को ब्रह्म का शरीर नहीं मानते। ये स्वत:स्थित तत्व हैं। उनमें परस्पर भेद वास्तविक है। ईश्वर केवल इनका नियंत्रण करता है। इस दर्शन में ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण है, प्रकृति (भौतिक तत्व) उपादान कारण है।

द्वैताद्वैत वेदान्त-निंबार्क (11 वीं शताब्दी)

निंबार्क का दर्शन रामानुज से अत्यधिक प्रभावित है। जीव ज्ञान स्वरूप तथा ज्ञान का आधार है। जीव और ज्ञान में धर्मी-धर्म-भाव-संबध अथवा भेदाभेद संबंध माना गया है। यही ज्ञाता, कर्ता और भोक्ता है। ईश्वर जीव का नियंता, भर्ता और साक्षी है। भक्ति से ज्ञान का उदय होने पर संसार के दु:ख से मुक्त जीव ईश्वर का सामीप्य प्राप्त करता है। अप्राकृत भूत से ईश्वर का शरीर तथा प्राकृत भूत से जगत् का निर्माण हुआ है। काल तीसरा भूत माना गया है। ईश्वर को कृष्ण राधा के रूप में माना गया है। जीव और भूत इसी के अंग हैं। यही उपादान और निमित कारण है। जीव-जगत् तथा ईश्वर में भेद भी है अभेद भी है। यदि जीव-जगत् तथा ईश्वर एक होते तो ईश्वर को भी जीव की तरह कष्ट भोगना पड़ता। यदि भिन्न होते तो ईश्वर सर्वव्यापी सर्वांतरात्मा कैसे कहलाता?

शुद्धाद्वैत वेदान्त- वल्लभाचार्य (1479 ई.)

वल्लभाचार्य के इस मत में ब्रह्म स्वतंत्र तत्व है। सच्चिदानंद श्रीकृष्ण ही ब्रह्म हैं और जीव तथा जगत् उनके अंश हैं। वही अणोरणीयान् तथा महतो महीयान् है। वह एक भी है, नाना भी है। वही अपनी इच्छा से अपने आप को जीव और जगत् के नाना रूपों में प्रकट करता है। माया उसकी शक्ति है जिसी सहायता से वह एक से अनेक होता है। परंतु अनेक मिथ्या नहीं है। श्रीकृष्ण से जीव-जगत् की स्वभावत: उत्पत्ति होती है। इस उत्पत्ति से श्रीकृष्ण में कोई विकार नहीं उत्पन्न होता।

जीव-जगत् तथा ईश्वर का संबंध चिनगारी आग का सबंध है। ईश्वर के प्रति स्नेह भक्ति है। सांसारिक वस्तुओं से वैराग्य लेकर ईश्वर में राग लगाना जीव का कर्तव्य है। ईश्वर के अनुग्रह से ही यह भक्ति प्राप्य है, भक्त होना जीव के अपने वश में नहीं है। ईश्वर जब प्रसन्न हो जाते हैं तो जीव को (अंश) अपने भीतर ले लेते हैं या अपने पास नित्यसुख का उपभोग करने के लिए रख लेते हैं। इस भक्तिमार्ग को पुष्टिमार्ग भी कहते हैं।

अचिंत्य भेदाभेद वेदान्त-महाप्रभु चैतन्य (1485-1533 ई.)

महाप्रभु चैतन्य के इस संप्रदाय में अनंत गुणनिधान, सच्चिदानंद श्रीकृष्ण परब्रह्म माने गए हैं। ब्रह्म भेदातीत हैं। परंतु अपनी शक्ति से वह जीव और जगत् के रूप में आविर्भूत होता है। ये ब्रह्म से भिन्न और अभिन्न हैं। अपने आपमें वह निमित्त कारण है परंतु शक्ति से संपर्क होने के कारण वह उपादान कारण भी है। उसकी तटस्थशक्ति से जीवों का तथा मायाशक्ति से जगत् का निर्माण होता है। जीव अनंत और अणु रूप हैं। यह सूर्य की किरणों की तरह ईश्वर पर निर्भर हैं। संसार उसी का प्रकाश है अत: मिथ्या नहीं है। मोक्ष में जीव का अज्ञान नष्ट होता है पर संसार बना रहता है। सारी अभिलाषाओं को छोड़कर कृष्ण का अनुसेवन ही भक्ति है।

वेदशास्त्रानुमोदित मार्ग से ईश्वरभक्ति के अनंतर जब जीव ईश्वर के रंग में रँग जाता है तब वास्तविक भक्ति होती है जिसे रुचि या रागानुगा भक्ति कहते हैं। राधा की भक्ति सर्वोत्कृष्ट है। वृंदावन धाम में सर्वदा कृष्ण का आनंदपूर्ण प्रेम प्राप्त करना ही मोक्ष है

ईश्वर में विश्वास सम्बन्धी अनेक सिद्धान्त प्रचलित हैं -

- ईश्वरवाद (Theism)
- बहुदेववाद (Polytheism)
- एकेश्वरवाद (Monotheism)
- तटस्थेश्वरवाद (deism)
- सर्वेश्वरवाद (Pantheism)
- निमित्तोपादानेश्वरवाद (Panentheism)

गैर-ईश्वरवाद (Non-Theism)

- अनीश्वरवाद (Atheism)
- अज्ञेयवाद (agnosticism)
- संदेहवाद (skeptism)

वैदिक और पाश्चात्य मतों में परमेश्वर की अवधारणा में यह गहरा अन्तर है

ईसाई धर्म :परमेश्वर एक में तीन है और साथ ही साथ तीन में एक है -- परमपिता, ईश्वरपुत्र ईसा मसीह और पवित्र आत्मा।

इस्लाम धर्म : वो ईश्वर को अल्लाह कहते हैं। "अल्लाह" का अर्थ होता है "एकमात्र उपास्य ईश्वर" यानी अल्लाह का अर्थ सिर्फ ईश्वर है, कोई विशेष नाम रूप रंग नहीं ॥

हिन्दू धर्म : वेद के अनुसार व्यक्ति के भीतर पुरुष ईश्वर ही है। परमेश्वर एक ही है। वेद के अनुसार ईश्वर भीतर और परे दोनों है जबकि पाश्चात्य धर्मों के अनुसार ईश्वर केवल परे है।

ईश्वर परब्रह्म का सगुण रूप है। वैष्णव लोग विष्णु को ही ईश्वर मानते है, तो शैव शिव को।

योग सूत्र में पतञ्जलि लिखते है - "क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः"।

(क्लेष, कर्म, विपाक और आशय से अछूता (अप्रभावित) वह विशेष पुरुष है।)
ईश्वर प्राणी द्वारा मानी जाने वाली एक कल्पना है इसमे कुछ लोग विश्वास करते है तो कुछ नही।
जैन धर्म : में अरिहन्त और सिद्ध (शुद्ध आत्माएँ) ही भगवान है। जैन दर्शन के अनुसार इस सृष्टि को किसी ने नहीं बनाया।

इस प्रकार हम कह सकते है कि मध्यस्थ दर्शन और परम्परा में प्रचलित परमात्मा, आत्मा और प्रकति विषयक मान्यताएं एक जैसी नहीं हैं।

डॉ सुरेन्द्र पाठक